कायोत्सर्ग : ध्यान की पूर्णता

ध्यान में चित्त स्थिर, एकाग्र होता है।[१] मन के एकाग्र होने से चित्त का निरोध होता है।[२] चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है।[३] योग की पराकाष्ठा समाधि है। समाधि की उपलबिध संयम, तप व व्यवदान से होती है। संयम से आस्रव का निरोध होता है।[४] आस्रव के निरोध से नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है।[५] तप से व्यवदान होता है। व्यवदान से साधक अक्रियता प्राप्त करता है। अक्रिय युत होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। परम शान्ति को प्राप्त होकर सर्वदु:खों का अंत कर देता है।[६]

देह के आश्रय रहते कायोत्सर्ग, देहातीत होना सम्भव नहीं है। कायोत्सर्ग या देहातीत होने के लिए देह के आश्रय से ऊपर उठना होता है। जो तन, वचन और मन, इन तीनों की अक्रियता से ही सम्भव है। (जैसा कि कायोत्सर्ग के पाठ में कहा है।) कारण कि क्रिया, मन, वचन व काया से होती है। क्रिया कोई भी हो, वह हलचल, चंचलता तथा अस्थिरता उत्पन्न करती है। कायोत्सर्ग में काया, वचन व मन की क्रिया का निरोध कर इन्हें निश्चल व स्थिर किया जाता है जैसा कि कायोत्सर्ग करने के पाठ 'तस्स उत्तरी करणेणं' के अन्त में कहा गया है-

ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि

अर्थात् जब तक मैं कायोत्सर्ग करता हूँ तब तक काया को स्थिर, वचन से मौन और मन को ध्यानस्थ आत्मस्थ रखूँगा। अर्थात् काया, वचन तथा मन से कोई भी क्रिया नहीं करूँगा। जैसा कि ध्यानाध्ययन (ध्यान शतक) ग्रन्थ में, षट्खण्डागम की धवला टीका, पुस्तक १३ में तथा आदि पुराण में कहा है-

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता।।

-गाथा २, ध्यानाध्ययन, धवला टीका, पुस्तक १३, गाथा १२

स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं येच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव।।

-आदिपुराण, २१-९

अर्थ- जो स्थिर अध्यवसान (मन) है, वह ध्यान है। इसके विपरीत जो चंचल (अस्थिर) चित्त है, उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। ये सब मन की प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ हैं अत: इन्हें ध्यान नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रिया व कर्तृत्व है वहाँ कायोत्सर्ग नहीं है।

ध्यान में काया, वचन और मन में प्रवृत्ति या क्रिया करने का निषेध 'द्रव्य संग्रह' में स्पष्ट शब्दों में किया है-

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।

-द्रव्य संग्रह, ५६

अर्थ- हे साधुओ! तुम काया से कुछ भी चेष्टा मत करो, वचन से भी कुछ मत कहो और मन से कुछ भी चिन्तन मत करो, जिससे आत्मा आत्मा ही में स्थिर होता हुआ रमण करे, यही परम ध्यान है।

ध्यान में किसी विशेष आसन, स्थान, समय आदि का महत्व नहीं है, महत्व मन-वचन काया के योगों के समाधान (स्वस्थता) का है, यथा-

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा।।

तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं।।

-ध्यान शतक, ४०-४१

अर्थ- मुनियों ने सभी देश (स्थान), काल और चेष्टा की अवस्था में अवस्थित रहते हुए अनेक प्रकार के पापों को नष्टकर सर्वोत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है, अत: ध्यान के लिए आगम में किसी विशेष देश, काल चेष्टा, आसन आदि के होने का नियम नहीं कहा है, किन्तु जिस प्रकार से भी योगों का मन, वचन काया का समाधान (स्वस्थता, स्थिरता, निर्विकारता) हो, उसी प्रकार का यत्न करना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि कायोत्सर्ग में मन, वचन और काया की किसी भी प्रकार की हलचल, चंचलता, प्रवृत्ति या क्रिया से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहित होना है। यहां तक कि शरीर में स्वत: होने वाली स्वाभाविक क्रियाओं उच्छ्वास-नि:श्वास, खाँसी, छींक, जम्भाई और डकार का आना, अधोवायु का निकलना, चक्कर आना, अंगों का कफ का, दृष्टि का स्वत: सूक्ष्म संचालन होना आदि को भी कायोत्सर्ग के पाठ में आगार के रूप में स्वीकार किया है। स्वयं की ओर से शरीर को किसी भी क्रिया करने की, हाथ-पैर हिलाने, आसन बदलने आदि की छूट भी (आगार) नहीं है। तब वचन व मन की क्रिया की छूट कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।

बौद्ध धर्म में प्रतिपादित 'विपश्यना-अनुपश्यना' ध्यान के प्रतिपादक मुख्य ग्रन्थ 'महासतिपट्ठानसुत्त' में वेदनानुपश्यना, चित्त अनुपश्यना, धर्म अनुपश्यना आदि प्रत्येक अनुपश्यना के साथ एक सूत्र दिया गया है। यथा–

"यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय अनिसित्तो च विहरति न च किञ्चि लोके उपादियति।"

(अनुपश्यना में) जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहार करता है और लोक (शरीर और संसार) में कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। भिक्षुओं! इस प्रकार भिक्षु अनुपश्यना में अनुपश्यी होकर विहार करता है।

इस प्रकार महासतिपट्ठानसुत्त में अनुपश्यी साधक के लिए किसी भी अनुपश्यना में लोक, शरीर और संसार के आश्रय ग्रहण करने तथा क्रिया करने का निषेध है, यहाँ तक कि वेदना, चित्त धर्म आदि अनुपश्यना में जो स्वत: हो रहा है उसका केवल ज्ञाता-द्रष्टा होता है, क्योंकि कोई भी क्रिया लोक का आश्रय लिए बिना नहीं होती है अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि लौकिक आश्रय लिए बिना नहीं होती है और अनुपश्यना (विपश्यना) में लोक का किंचित भी आश्रय ग्रहण न करने का विधान है। 'महासतिपट्ठानसुत्त' में ध्यान-साधक के लिए सिर से पैर तक पूरे शरीर के प्रत्येक अंग-उपांग पर उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं को देखने एवं उनके अनित्य होने का चिन्तन करने का भी विधान नहीं है। वे ध्यान से पूर्व की आत्म-निरीक्षण की अर्थात् स्वाध्याय की क्रियाएँ हैं। कारण कि संवेदनाओं को देखना और उनके अनित्य स्वभाव का चिन्तन मन-बुद्धि की क्रिया से ही सम्भव है, क्योंकि कोई भी क्रिया बिना आश्रय के नहीं होती है। कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग में शरीर, संसार, कषाय और कर्म इन सबका व्युत्सर्ग आवश्यक है अर्थात् इनसे असंग होना, इनके आश्रय का त्याग करना आवश्यक बताया है।

पातंजल योग सूत्र में कहा है–

योगाश्चित्तवृत्ति निरोध:।१-२

चित्त की वृत्तियों का निरोध होना योग है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ 'करना' है वहाँ क्रिया है, जहाँ क्रिया है वहाँ कर्म है। अत: ध्यान-साधना में अपनी ओर से कुछ भी करने का निषेध है। ध्यान-साधना में करना 'होने' में बदल जाता है जिससे शरीर व चित्त आदि के स्तर पर जो भी घटनाएँ घटती हैं, संवेदनाएँ आदि प्रकट होती हैं वे साधक को मात्र दिखती हैं, उनका मात्र दर्शन-ज्ञान होता है, वह प्रयत्नपूर्वक 'देखता' नहीं है। जैसे हम रेल में यात्रा कर रहे होते हैं उस समय बाहर की वस्तुएँ दिखाई देती हैं, उन्हें देखने व जानने की क्रिया नहीं करनी पड़ती है। वे अपने-आप दिखती हैं उन्हें देखने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रयत्न में काया का आश्रय लेना पड़ता है। काया का आश्रय रहते कायोत्सर्ग कदापि सम्भव नहीं हैं।

पूर्व में कह आए हैं कि चित्त का निश्चल, स्थिर होना ध्यान है। चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षा, भावना, संकल्प, विकल्प आदि से चित्त सक्रिय अस्थिर रहता है, निश्चल नहीं होता है, अत: तब तक ध्यान नहीं होता। इन सबसे परे होने पर ही चित्त शान्त व स्थिर होता है। इसे ही समाधि कहा गया है। प्रकारान्तर से कहें तो निर्विकल्प स्वसंवेदन, चैतन्य रूप दर्शनोपयोग ध्यान है। दर्शन रूप होने से ध्यान को अनुपश्यना व विपश्यना कहा जाता है। अनुपश्यना-विपश्यना शब्द 'पश्य' क्रिया से बने हैं।' 'पश्य' शब्द दृश् (दर्शने) धातु से बना है। अत: ध्यान दर्शनमय होता है। दर्शन निर्विकल्प, स्वसंवेदन रूप होता है। जैसा कि ध्यान का वर्णन करते हुए तत्त्वानुशासन में कहा है-५

तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्ताया: स्यान्निरोधनम्।
तद्ध्यानं तद्भावो वा स्वसंवित्तिमयश्च स:।।६५।।

अर्थ– किसी भी सहायता (आश्रय) से रहित आत्मा में जो चिन्ता का निरोध है, वह ध्यान है अथवा जो चिन्ता के अभाव व स्वसंवेदन रूप है, वह ध्यान है।

पाहुडदोहा में कहा है–

जिमि लोणु विजिज्जइ पाणियहं तिमि जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हवइ जीवड़ा काइं समाहि कारिज्ज।।
–पाहुडदोहा, १७६

जिस प्रकार नमक पानी में विलीन होकर समरस हो जाता है उसी प्रकार यदि चित्त आत्मा में विलीन होकर समरस हो जाये तो फिर जीव को समाधि में और क्या करना है? अर्थात् चित्त का बाह्य विषयों से विमुख हो, आत्म स्वरूप में लीन होना ही समाधि है, ध्यान है।

श्री जिनसेनाचार्य कहते हैं :

योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोध: स्वान्त: निग्रह:।
अंत: संलीनता चेति तत्पर्याया: स्मृता बुधे:।।
२१-२२ आर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– योग, समाधि, बुद्धि-निरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्त:संलीनता ये ध्यान के पर्यायवाची हैं। योग अर्थात् चित्त का निरोध, समाधि-चित्त की स्थिरता, धी निरोग-बुद्धि से चिन्तनरहित होना, स्वान्त: निग्रह-अपने अन्त:स्थल में स्थिर होना, अन्त: संलीनता- अपने अन्त:करण में संलीन होना ध्यान है अर्थात् मन, चित्त, बुद्धि और अहं का निरोध-निग्रह होना ध्यान है।

तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्ययन में धर्म-ध्यान के भेदों में आए 'विचय' शब्द की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि टीकाओं में 'विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम्' कहा है अर्थात् विचय, विवेक और विचारणा, ये समानार्थक हैं। चिन्तन करने से ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में विचारण शब्द का प्रयोग विचरण व आचरण-अनुभव करने के अर्थ में होता था। वर्तमान में भी विचरण शब्द का प्रयोग विहार करने के अर्थ में होता है। बौद्ध धर्म में ध्यान के प्रमुख ग्रन्थ महासतिपट्ठान में सर्वत्र अनुपश्यी (ध्यान-साधक) के साथ विहरति (अनुपस्सी विहरति) शब्द आता है, जहाँ पर विहार शब्द का अर्थ 'यथाभूत तथागत' है, अर्थात् 'यथार्थ' में जैसा हो रहा है उसे वैसा ही अनुभव करना है' इसी आशय से धर्म-ध्यान के चारों भेदों के साथ प्रयुक्त विचय शब्द का अर्थ-विचरण आचरण रूप अनुभव करना उपयुक्त लगता है। विचरण, चिन्तन आदि अर्थ ध्यान के लक्षण 'थिरमज्झ-वसाणं-स्थिर अध्यवसान' के बाधक होने से असंगत लगते हैं। अत: विचय का अर्थ है– 'यथाभूत तथागत' अर्थात् ध्यान में जैसा अनुभव के रूप में प्रकट हो रहा है उसे यथार्थ रूप में वैसा ही देखना, उसके प्रति राग-द्वेष न करना, उसका समर्थन व विरोध न करना, उससे असंग रहना। असंग रहना ही व्युत्सर्ग है। इसी अर्थ में धर्म-ध्यान के भेदों का विवेचन किया जा रहा है।

ध्यान की उपर्युक्त परिभाषा तथा व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में धर्म-ध्यान के चार भेद आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय में विचय शब्द का अर्थ विचार व चिन्तन करना उपयुक्त नहीं लगता है, कारण कि चिन्तन या विचारना में चित्त ऊहापोह व विकल्पयुक्त होता है, ज्ञानोपयोगमय होता है, निर्विकल्प व स्वसंवेदन रूप नहीं होता है। अत: यहाँ विचय शब्द का अर्थ विचार करना नहीं होकर विचरण करना, संवेदन व अनुभव करना अधिक उपयुक्त लगता है। यथा–

आज्ञाविचय– आज्ञा अर्थात् सत्य का श्रुतज्ञान का, अपने अनादि अविनाशी स्वभाव का, शरीर से आत्मा की भिन्नता का जैसा स्वरूप प्रकट हो रहा है, वैसा ही अनुभव होना आज्ञाविचय है। यह शरीर व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग है।

अपायविचय – राग, द्वेष मोह आदि त्याज्य अपाय, दोषों को, कषायों को जैसे वे प्रकट हो रहे हैं, उन्हें वैसा ही अनुभव करना, उनका समर्थन व विरोध न करना, असंगतापूर्वक अनुभव करना अपायविचय है। यह कषायव्युत्सर्ग है।

विपाकविचय – अपाय का, दोषों का, कर्मों का, कर्मों का विपाक-उदय का फल जैसा प्रकट हो रहा है उसे उसी रूप में समता व असंगतापूर्वक अनुभव करना विपाकविचय है, यह कर्म-व्युत्सर्ग है।

संस्थानविचय – संसार या लोक के स्वरूप का अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-भंग (विनाश) के चक्र रूप प्रवाह का असगंतापूर्वक अनुभव करना संस्थानविचय है, यह संसार व्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्ग – अपने में देह की और देह में अपनी स्थापना करने से प्राणी को निज स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। देह में अपनी स्थापना करने से 'मैं देह हूँ' रूप अहंभाव (देहाभिमान) उत्पन्न होता है। इसका परिणाम यह होता है कि देह की सत्यता (स्थायित्व) भासित होने लगती है और अपने में देह की स्थापना करने से देह में ममता (आसक्ति) उत्पन्न हो जाती है, जिससे देह सुन्दर तथा सुखद लगने लगती है। इस प्रकार देह से अभेदभाव के सम्बन्ध से अहम् (मान) और भेदभाव के सम्बन्ध से 'मम' (माया) उत्पन्न होता है।

अहम् और मम भाव से कामना की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त कुपित, क्षोभित (अशान्त) हो जाता है और कामना की पूर्ति में सुख का और अपूर्ति में दु:ख का भास होने लगता है। सुख की दासता और दु:ख के भय से प्राणी निज अविनाशी (अनन्त) स्वरूप से विमुख हो जाता है अर्थात् विभाव में आबद्ध और स्वभाव से च्युत हो जाता है। यद्यपि अविनाशी निज स्वरूप सदैव विद्यमान है, उससे देशकाल की दूरी नहीं है, फिर भी प्राणी उसे कठिन मानकर उससे निराश होने लगता है और देह दृश्यमान वस्तुएँ, जिनसे मानी हुई एकता है, वास्तविक नहीं, उनके प्रति आशान्वित, लालायित एवं प्रयत्नशील रहता है। यह प्राणी का घोर प्रमाद है।

प्राणी ने देहादि दृश्यमान वस्तुओं में सम्बन्ध कब और क्यों स्वीकार किया, इसका तो पता नहीं चलता है, परन्तु वस्तुओं से सम्बन्ध वर्तमान में ही विच्छिन्न होना सम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे स्वीकार करने सें ही देहादि वस्तुओं से सम्बन्ध हुआ है। अत: प्रत्येक सम्बन्ध स्वीकृति मात्र से उत्पन्न होता है और अस्वीकृति मात्र से उसका सम्बन्ध नाश हो जाता है। **ऐसी कोई स्वीकृति हैं ही नहीं जो अस्वीकृति से न मिट जाए। कोई भी स्वीकृतिजन्य सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि अस्वीकृति के अतिरिक्त अन्य किसी अभ्यास, प्रयास से मिट जाय।** इस दृष्टि से देहादि से अनन्तकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है, वर्तमान में उसका विच्छेद -व्युत्सर्ग हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देह व दृश्यमान वस्तुओं (शरीर संसार लोक से व्युत्सर्ग (सम्बन्ध विच्छेद) होते ही अहम् और मम का नाश हो जाता है। अहम् का नाश होते ही निरहंकार होने से अनन्त से एकता तथा अभिन्नता हो जाती है जिससे अविनाशी अनन्त तत्व अमरत्व की अनुभूति हो जाती है। मम का नाश होते ही सब विकारों का नाश होकर निर्विकार, वीतराग, शुद्ध चैतन्य (सच्चिदानन्द) स्वरूप का अनुभव हो जाता है। इस प्रकार ध्यान व व्युत्सर्ग से सब पापों (विकारों) का नाश होकर आत्मा विशुद्ध एवं सर्वशल्यों से मुक्त हो जाती है, अर्थात् ध्यान से ध्याता को ध्येय की उपलब्धि हो जाती है।

जिज्ञासा होती है कि क्या शरीर, इन्द्रिय, संसार वस्तु तथा इनकी सक्रियता के बिना भी जीवन है? यदि जीवन है तो वह जीवन कैसा है?

समाधान– यह सभी का अनुभव है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की क्रियाओं, प्रवृत्तियों व विषयों का निरोध होने पर ही गहरी निद्रा आती है। उस समय इन सबकी स्मृति व सम्बन्ध नहीं रहता है। उस अवस्था में दु:ख का अनुभव नहीं होता है। परन्तु जगने पर व्यक्ति यह ही कहता है कि मैं बहुत सुख से सोया, यह नियम है कि स्मृति उसी की होती है, जिसकी अनुभूति होती है। गहरी निद्रा में किंचित भी दु:ख नहीं था, मात्र सुख ही था। इस अनुभूति से यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, संसार वस्तु आदि के बिना भी, इनके न रहने पर भी दु:खरहित सुखपूर्वक जीवन का अनुभव सम्भव है। किन्तु यह जड़तापूर्ण स्थिति है, अत: इस अनुभव का आदर न करने से ही प्राणी शरीर, संसार, वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होता है और इनकी दासता को बनाये रखता है। यदि जाग्रत अवस्था में भी गहरी निद्रा के विश्राम के समान स्थिति प्राप्त कर ली जाय तो यह स्पष्ट अनुभव हो जायेगा कि शरीर, संसार आदि की क्रिया के बिना भी जीवन है और उस जीवन में किसी प्रकार का अभाव, अशान्ति, पराधीनता, जड़ता, चिन्ता, भय तथा दु:ख नहीं है। अत: शरीर, संसार व भोग के सुख के बिना जीवन नहीं है– इस भ्रान्ति को त्यागकर शरीर, संसार, कषाय (भोग-प्रवृत्ति) व कर्म का व्युत्सर्ग-विसर्जन कर शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता, निश्चिन्तता, निर्भयता, प्रसन्नता, अमरता की अनुभूति कर लेना साधक के लिए अनिवार्य है। यही सिद्ध, बुद्ध व मुक्त होना है।

''मैं देह हूँ'' – इस मान्यता के दृढ़ होते ही इन्द्रिय,मन, बुद्धि आदि में भी 'मैं' की मान्यता हो जाती है, जो समस्त दोषों की जननी है। कारण कि जब इन्द्रिय और मन का अपने विषयों से सम्बन्ध होता है तब शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से सम्बन्धित मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के प्रभाव से मनोज्ञ विषयों के प्रति राग और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। रागोत्पत्ति से इन्द्रियाँ विषयों की ओर, मन इन्द्रियों की ओर, बुद्धि मन की ओर गति करने लगते हैं, इस प्रकार बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ सबकी संसार या बाह्य की ओर गति होने लगती है, और हम बहिर्मुखी हो जाते हैं, तथा कामना ममता, अहंता में आबद्ध होकर सुख-दु:ख का भोग करने लगते हैं।

इस प्रकार इन्द्रिय दृष्टि से समस्त विषय सुन्दर, सुखद व सत्य (स्थायी, नित्य) प्रतीत होते हैं। इस इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मन पर होता है तब मन इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर गतिशील होता है। परन्तु जब मन पर श्रुतज्ञान युक्त बुद्धि दृष्टि का प्रभाव होता है तब इन्द्रिय-दृष्टिजनित विषय सुन्दर, सुखद व सत्य है– यह प्रभाव मिटने लगता है। क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान से जो वस्तु सत्य, स्थायी व सुन्दर मालूम होती है वह ही वस्तु श्रुतज्ञान से, विवेकवती, बुद्धि से नश्वर तथा विध्वंसनशील, जीर्ण-शीर्ण गलन रूप मालूम होती है। इस ज्ञान से विषय व वस्तु के प्रति विरति (वैराग्य-अरुचि) होती है और मन विषयों से विमुख होने लगता है। इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो स्वत: मन में विलीन हो जाती है। मन बुद्धि में विलीन हो जाता है फिर बुद्धि सम हो जाती है। उस समता में स्थित आत्मा सब मान्यताओं से अतीत हो जाता है जिससे सब प्रकार के प्रभावों की अर्थात् भोग, कामनाओं, वासनाओं आदि दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

इन्द्रिय-दृष्टि से विषय-वस्तुओं में सत्यता प्रतीत होती है। उसका प्रभाव राग उत्पन्न करता है। राग भोग में प्रवृत्त करता है, किन्तु विवेक दृष्टि (श्रुतज्ञान) विषय-सुखों की क्षण-भंगुरता का ज्ञान कराती है, जिससे राग वैराग्य में और भोग योग (संयम) में रूपान्तरित हो जाता है वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्रष्टा में विषय-सुखों से, सब मान्यताओं से अतीत होने– इनके रागजनित प्रभावों से मुक्त होने की क्षमता आ जाती है। जिससे शरीर व शरीर से सम्बन्धित गण, उपाधि आदि से व्युत्सर्ग हो जाता है। **विषय सुखों के प्रभाव से मुक्त होने पर कषाय-विसर्जन (व्युत्सर्ग), कषाय-व्युत्सर्ग से कर्म-व्युत्सर्ग ओर कर्म-व्युत्सर्ग से संसार-व्युत्सर्ग स्वत: हो जाता है। आचारांग सूत्र की भाषा में कहें तो ''जे कोहदंसी से माणंदसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदेसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयं पासगस्स दंसणं उवरय-सत्थस्स पलियंत करस्स आयाणं निसिद्धा सगडस्मि किमत्थि आवोही पासगस्स**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न विज्जइ। णत्थि त्तिवेमि। (आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ३, उद्देशक ४ सूत्र)

अर्थात् जो क्रोध को देखता है वह मान को देखत है, जो मान को देखता है वह माया को देखता है, इस प्रकार क्रमशः माया से लोभ को, लोभ से राग को राग, से द्वेष को, द्वेष से मोह को, मोह से गर्भ को, गर्भ से जन्म को, जनम से मार को, मार से नरक को, नरक से तिर्यंच को, तिर्यंच से दु:ख को देखता है। इस प्रकार मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्भ, मार, नरक, तिर्यंच और दु:ख का दर्शन करता है। यह शस्त्र उपरत द्रष्टा का दर्शन है जो कर्म से उपरत करता है।

आशय यह है कि व्युत्सर्ग की कोई प्रक्रिया नहीं होती, परन्तु ध्यान की पात्रता प्राप्त करने के लिए जैन दर्शन में अणुव्रत महाव्रत का पालन, पातंजल योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि, बौद्ध दर्शन में शील और जैन दर्शन में विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि सद् प्रवृत्तियों का आचरण अपेक्षित है।

संदर्भ सूत्र :

१. *ध्यान-शतक, गाथा-२*

२. *उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र २५*

३. *पंतजलि योग, १-२*

४. *उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र २७*

५. *उत्तराध्ययन, अ० २९ सूत्र २७*

६. *उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र २९*

■

संकलन : **रिधकरण बोथरा**

ॐ की साधना

साधौ सबद साधनौ कीजै
जेहि सबद ते प्रगट भये सब, सोई सबद गहि लीजै।।

उसी परम शब्द को पकड़ो ॐ को ही साधो। ॐ को ही जपो। ॐ की ही प्रतिध्वनि सुनो। ॐ में ही रस लो। ॐ में बड़ा आकर्षण है। 'रसो वै स:' वह रस रूप है। परमात्मा रस रूप है। 'ॐ' उसका वाचक है। उसमें डूबो। रोम-रोम से उसी का रस पियो।

'ॐ' ध्यान की मौलिक ध्वनि है। 'ॐ' का ध्यान हम चार चरणों में पूरा कर सकते हैं। इन चार चरणों का कुल समय पैंतालिस मिनट होना चाहिये। पहला, दूसरा और तीसरा चरण दस-दस मिनट का है और अन्तिम चरण पन्द्रह मिनट का।

'ॐ' ध्यान-योग के पहले चरण में ॐ का पाठ करो। उसका लम्बा उच्चारण करो यानि उसका जोर से रटन करो। दूसरे चरण में होठों को बन्द कर लो और भीतर उसका अनुगूंज करो। जैसे भौरें की गूंज होती है, वैसे ही ॐ की गूंज करो। तीसरे चरणा में मनोमन 'ॐ' का स्मरण करो। श्वास की धारा के साथ 'ॐ' को जोड़ लो। तल्लीनता इतनी होजाए कि श्वास ही 'ॐ' बन जाएं। चौथे चरण में बिल्कुल शान्त बैठ जाओ।

पहला चरण पाठ है, दूसरा चरण जाप है। तीसरा चरण अजपा है और चौथा चरण अनाहत है। चौथे चरण में पूरी तरह शान्त बैठना है, स्मृति से भी मुक्त होकर। इन शान्ति के क्षणों में ही अनाहत की सम्भावना दस्तक देगी।

'ॐ' परमात्मा का ही द्योतक है। इसलिए इसमें रचो। यह महामंत्र है। सारे मंत्रों का बीज है यह। हर मंत्र किसी न किसी रूप में इसी से जुड़ा है। इसलिए ॐ मंत्र योग की जड़ है।

एक पेड़ में पत्ते हजारों हो सकते हैं, पर जड़ तो एक ही होती है। जिसने जड़ को पकड़ लिया, उसने जड़ से जुड़ी हर सम्भावना को आत्म-सात् कर लिया।

'ॐ' कालातीत है, अर्थातीत है, व्याख्यातीत है। परमात्मा भी इसी में समाया हुआ है और यह परमात्मा में समाया हुआ है। ईसाइयों का आमीन 'ॐ' ही है। जैनों ने 'ॐ' में पंच परमेष्ठि का निवास माना है। हिन्दुओं ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश का संगम माना है। परमात्मा में डूबने वाले 'ॐ' में डूबें। ॐ से ही अस्तित्व ध्वनित होता है। 'ॐ' से ही परमात्मा अस्तित्व में घटित होता है। 'ॐ' शान्ति' इसके आगे और कोई चरण नहीं है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org